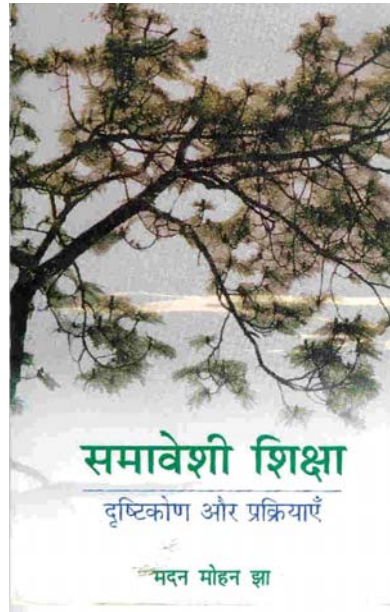


○.....
सभी बच्चों की शिक्षा का 'आदर्श' सभी जनतांत्रिक सरकारें प्रस्तुत करती हैं। 'सभी' से आशय सामान्य मानसिक एवं शारीरिक क्षमताओं से युक्त बच्चों का लिया जाता है। लेकिन अभी भी लड़कियों, निर्योग्य बच्चों, अल्पसंख्यक समूहों, जनजातीय, अनाथ, बाल श्रमिकों, फुटपाथी बच्चों, अभावग्रस्त एवं विपदाग्रस्त बच्चों की शिक्षा व्यवस्था समुचित रूप से नहीं हो पा रही है। समीक्षित पुस्तक में सभी बच्चों की समान शिक्षा का प्रस्ताव रखा गया है। अव्यवहार्य सा लगने वाला यह विचार प्रजातान्त्रिक समाज की जरूरत तो है।

सब की शिक्षा : एक छतरी तले

□ सुरेश पंडित

भूमण्डलीकरण के इस सर्वसमावेशी दौर में शिक्षा भी बाजारी शक्तियों के प्रभाव से अछूती नहीं रही है। पारम्परिक या ज्ञानमार्गी शिक्षा की बजाय लोगों का व्यवसायोन्मुखी शिक्षा की ओर रुझान तेज से तेजतर हुआ है। बाजार में जिस गति से प्रतिस्पर्धा बढ़ रही है। उसी गति से छात्रों में 'मैरिट' पाने की होड़ भी तीव्र हो रही है। अब विद्यालयों की श्रेष्ठता इस बात से प्रमाणित नहीं होती कि वे कितने अधिक छात्रों को शिक्षा देते हैं, कितने योग्य और अनुभवी अध्यापक उनके यहां काम कर रहे हैं, पाठ्येतर उपयोगी साबित हो रहे हैं बल्कि इससे प्रमाणित होता है कि इनके कितने छात्र, विभिन्न प्रतियोगिताओं की योग्यता सूची में अपना नाम दर्ज करवा रहे हैं। कितने प्रतियोगी परीक्षाओं में सफलता प्राप्त करते हैं और कितने मल्टीनेशनल निगमों में ईर्ष्या करने योग्य पद हासिल करने में कामयाब होते हैं। ऐसे गलाकाट प्रतियोगिता वाले समय में असहाय और अभावग्रस्त लोगों के बच्चों की शिक्षा के प्रति उदासीनता बढ़ना अस्वाभाविक नहीं माना जा सकता। एक तरफ लोकतांत्रिक शासन प्रणाली के सुचारू संचालन के लिए सर्वव्यापी शिक्षा का होना अनिवार्य माना जा रहा है। तो दूसरी ओर यह कोशिश जारी है कि श्रेष्ठतर और नवीनतम संसाधनों से सुसज्जित शिक्षा नव धनिकों व अभिजनों की पहुंच तक ही सीमित रह जाए। शिक्षा में ऐसा प्रतियोगी बाजार निर्मित किया



जा रहा है जो सामाजिक रूप से पिछड़े, आर्थिक रूप से कमजोर और शारीरिक रूप से विकलांग लोगों को इस बाजार से बाहर बनाए रखे। ऐसे में यह विचार एक आकाश कुसुम की तरह अव्यवहार्य ही माना जा सकता है कि सभी विद्यालय एक ऐसा समावेशी वातावरण रचें जिसमें व्यक्तियों की किसी भी श्रेणी, सामाजिक वर्ग, जाति या समूह को शिक्षा पाने के अवसर से वंचित न होना पड़े। परन्तु मदन मोहन झा की प्रस्तुत पुस्तक 'समावेशी शिक्षा' तो सब के लिए शिक्षा प्राप्ति के अधिकार के पक्ष में बड़ी मजबूत और असरकारी दलीलों से लैस होकर खड़ी दिखाई देती है। इसका दायरा सभी निरक्षर वयस्कों, बच्चों, स्त्रियों, उपजातीय अल्पसंख्यकों, अनुसूचित जातियों, जन जातियों, निर्योग्य लोगों, अनाथों, बाल श्रमिकों, फुटपाथी बच्चों और अन्य प्रकार के विपदा, शोषण, वंचनाग्रस्त लोगों के बच्चों को अपने में समाहित करता है। झा की मान्यता है कि समावेश से तात्पर्य केवल विकलांग बच्चों का समावेश नहीं है बल्कि सामाजिक और आर्थिक दृष्टि से अभावग्रस्त उन सब बच्चों का समावेश भी है जिन्हें व्यवस्थागत विसंगतियों ने निरीह बना दिया है। इस तरह यह समावेशी शिक्षा निर्णायक रूप से वर्तमान पाठ्यचर्या और अध्यापक केन्द्रित शिक्षा शास्त्र को चुनौती देती दिखाई पड़ती है।

झा अपनी बात शुरू करते हुए कहते हैं कि विद्यालयों में

अक्सर वे ही दरवाजे नहीं होते जो हमें दिखाई तो नहीं देते पर हमारे हर आगे बढ़ते कदम को रोकने की भरसक चेष्टा करते हैं। वे चयन परीक्षा में पास न होने पर, फीस न दे पाने पर, माता-पिताओं के योग्य न होने पर या शारीरिक, मानसिक रूप से निर्योग्य होने पर बच्चों को अन्दर दाखिल होने से रोक देते हैं। किसी तरह से इन बाधाओं को पार कर लेने पर भी मुसीबतों का अन्त नहीं होता। अध्यापक वही पढ़ाते हैं जो स्कूल पाठ्यक्रम में निर्धारित होता है, वैसे ही पढ़ाते हैं जैसा प्रशिक्षण वे प्राप्त करते हैं। उनका इस बात से कोई वास्ता नहीं होता कि उनका पढ़ाया इन बच्चों की समझ में आ रहा है अथवा नहीं। फिर जब परीक्षा में बच्चे फेल हो जाते हैं तो इन्हें निकम्मा, नकारा या जड़मति घोषित कर दिया जाता है। वे विद्यालय से निकाल दिए जाते हैं या स्वयं निकल जाते हैं। आश्चर्य है बहुसंख्यक बच्चों की इस नाकामयाबी के लिए शिक्षकों को या स्कूल को कभी जिम्मेदार नहीं ठहराया जाता। विद्यालयों से इस प्रकार से जड़ खोदना तो है ही केवल आर्थिक सामाजिक रूप से बलशाली वर्गों के बच्चों के लिए शिक्षा के क्षेत्र को आरक्षित कर देना भी है।

यह पुस्तक जहां एक ओर विद्यालय को बच्चे के सामने आने वाली अधिगम और भागीदारी संबंधी कठिनाइयों को दूर करने का दायित्व निर्वाह करने की बाध्यता स्थापित करती है और बच्चों को सामाजिक आर्थिक दशाओं और शारीरिक स्थितियों को उनकी सीखने की प्रक्रिया में अवरोधक न बनने देने के लिए प्रयास करने की बात कहती है तो दूसरी ओर यह भी प्रतिपादित करती है कि बच्चों का अधिगम कार्य कक्षाकक्षों तक ही सीमित न रखा जाए बल्कि उसे समुदाय तक ले जाने की भी वकालत करती है। इसका पक्का विचार है कि स्कूल और समुदाय के बीच की दूरी जितनी कम होगी शिक्षार्थी समुदायोन्मुख विद्यालय की उस अवधारणा को साकार करने का प्रयास करती है जिसमें सभी बाधा-बंधनों से मुक्त होकर शिक्षा को वहां ले जाया जाता है जहां बच्चे इसे पाना चाहते हैं।

पुस्तक नौ अध्यायों में विभाजित है। पहला अध्याय समावेशी शिक्षा की अवधारणा को स्पष्ट करते हुए इसकी आवश्यकता एवं उपयोगिता की व्याख्या करता है। साथ ही अगले आठ अध्यायों में इस शिक्षा के जिन विविध पहलुओं पर चर्चा की गई है उनकी संक्षिप्त जानकारी देता है। प्रस्तावना के बाद दूसरे अध्याय में इस मुद्दे पर विचार किया गया है कि विद्यालय के वर्तमान स्वरूप की शुरुआत उन्नीसवीं सदी में तब की गई थी जब औद्योगिक समाज को एक खास तरह से प्रशिक्षित मानव संसाधन की जरूरत महसूस हुई थी। पर आज वह समाज सूचना युग में दाखिल हो रहा है। ऐसे में क्या वह स्कूल इस समय के अनुरूप मानव शक्ति मुहैया कर

सकता है साथ ही इस बात से आगाह भी करता है कि जिस तरह तत्कालीन शिक्षा प्राप्त लोग उद्योग की भाषा बोलने लगे थे वैसे ही इस जमाने के शिक्षित कहीं बाजार की भाषा बोलने के आदी न हो जाएं। आज ऐसे विद्यालयों की जरूरत है जो छात्रों में मानवाधिकार, समता, विविधता और उत्कृष्टता के प्रति सकारात्मक रुझान पैदा कर सकें।

तीसरा अध्याय अन्तर्राष्ट्रीय परिप्रेक्ष्य का विवेचन करते हुए तीन बिन्दुओं पर अपना विमर्श केन्द्रित करता है। ये हैं - 1. परमार्थ और मानववाद, 2. अधिकार, समता और सामाजिक न्याय तथा 3. पाठ्यचर्या और स्कूल में आवश्यक सुधार। विस्तृत विवेचन के बाद लेखक इस नतीजे पर पहुंचता है कि समावेशी शिक्षा सभी के लिए शिक्षा के लक्ष्य को पाने का सर्वोत्तम उपाय हो सकती है।

चौथा और पांचवां अध्याय समावेशी शिक्षा को लेकर ब्रिटेन में अब तक हुए कार्य का लेखा प्रस्तुत करते हैं। और वर्तमान स्थिति से पाठकों को अवगत करवाते हैं जबकि छठे अध्याय में भारत की स्थितियों पर प्रकाश डाला गया है। इन तीनों अध्यायों के आधार पर दोनों देशों की स्थितियों का तुलनात्मक अध्ययन किया जा सकता है। इंग्लैण्ड में लोक शिक्षा की प्रक्रिया को शुरू हुए 130 वर्ष हो चुके हैं जबकि भारत में इसकी शुरुआत 50 वर्ष पहले हुई है। वहां 1970 तक सभी निर्योग्य बच्चे स्कूलों में आ चुके थे। यहां अब तक ऐसा नहीं हो पाया है। इंग्लैण्ड में नीति निर्माताओं और शिक्षाशास्त्रियों के विचारों में समावेशी शिक्षा को लेकर स्पष्ट अन्तर है जबकि भारत में अभी यह अवधारणा शैशवावस्था में ही है और अधिकतर शिक्षाशास्त्री इससे अपरिचित हैं। सातवां अध्याय कक्षाओं में समावेश की प्रक्रिया में आने वाले व्यवधानों और उन्हें दूर करने के समाधानों पर प्रकाश डालता है। यूनेस्को अपने 1994-96 के वक्तव्यों में स्पष्ट करता कि- 'विद्यालयों को चाहिए कि वे सभी बच्चों को उनकी शारीरिक, बौद्धिक, सामाजिक, भावात्मक, भाषायी एवं अन्य दशाओं पर ध्यान दिए बिना स्वीकार करें। विशेष शैक्षिक आवश्यकताओं वाले बच्चों को अधिकांश बच्चों के लिए किए गए शैक्षिक बन्दोबस्तों में शामिल किया जाना चाहिए।' यही समावेशी विद्यालय की मूल अवधारणा है। परन्तु यह तभी साकार हो सकती है जब बाल केन्द्रित शिक्षाशास्त्र के अनुसार स्कूलों में अध्यापन की व्यवस्था हो। ऐसे अध्यापक - प्रोत्साहक या सुविधा प्रदाता (फेसिलिटेटर) कहलाते हैं। इनके शिक्षण की विधि-सामूहिक, सहकारी अधिगम की विधि हो सकती हैं। बच्चा बच्चे को पढ़ा सकता है। गतिविधियों पर आधारित हो सकती है या फिर समस्या निवारण विधि को भी अपनाया जा सकता है।

आठवें अध्याय में इस क्षेत्र में आस्ट्रेलिया, अमेरिका, ब्रिटेन, यूनेस्को और भारत की पहल कदमियों का विवरण दिया गया है और इनसे विद्यालयों और अध्यापकों के दृष्टिकोणों में क्या अन्तर आया है और वे किस रूप में इन्हें लेने लगे हैं इन बातों की विस्तार से प्रस्तुत व्याख्या की गई है। अन्तिम नौ वां अध्याय उन निष्कर्षों को संकलित करता है जिन तक लेखक मदन मोहन झा अपने इस शोध अध्ययन के परिणामस्वरूप पहुंचते हैं। वे बताते हैं -

1. इंग्लैण्ड में नीति-निर्माताओं और इस विषय पर विचार कर लिखने वाले शिक्षाविदों के परिप्रेक्ष्यों में भारी अन्तर है।
2. समावेशी शिक्षा के बारे में इंग्लैण्ड की नीतियां और व्यवहार वहां के अभिभावकों की नवोदित आशाओं की पूर्ति करने में समर्थ नहीं हो रहे हैं यद्यपि इस ओर अध्यापकों और शिक्षाकर्मियों के प्रयास जारी हैं।
3. विशेष शैक्षिक आवश्यकताओं वाले बच्चों से संबंधित वर्तमान नीतियों और व्यवहारों को भारत जैसे देशों में यह निर्योग्य बच्चों के अलावा सामाजिक, आर्थिक कारणों से शिक्षा से वंचित बच्चों को लेकर भी है और जाहिर है ऐसे बच्चों की संख्या बहुत बड़ी है। इसलिए समावेशी शिक्षा यहां के लिए एक अतिशय चुनौतिपूर्ण अवधारणा है।
4. समावेशी शिक्षा के लिए भारतीय संदर्भ में एक राष्ट्रीय पाठ्यचर्या, व्यापक अध्यापक प्रशिक्षण तथा शिक्षा के लिए उपयोगी संचार प्रौद्योगिकी का होना जरूरी है। यहां

पाठ्यचर्या तो है लेकिन सेवारत या नवीन प्रशिक्षण में बाल केन्द्रित शिक्षण विधि पर उतना जोर नहीं दिया जाता जितना अपेक्षित है। क्योंकि यहां अभी तक निर्योग्य बच्चों के लिए अलग स्कूलों की व्यवस्था भी चली आ रही है। जहां तक संचार प्रौद्योगिकी का सवाल है इस बारे में भी बहुत कुछ करना अभी शेष है। भारत एक बहुत बड़ा और विविध स्थितियों वाला देश है यहां सबको समान सुविधा साधन मिल जाएं यह आसान नहीं है। फिर भी कोशिशें चल रही हैं।

यह पुस्तक भारतीय प्रशासनिक सेवा के अधिकारी मदन मोहन झा के विस्तृत शैक्षिक अध्ययन और विविध शिक्षा परियोजनाओं के जुड़ाव के कारण प्राप्त विशद अनुभव का परिणाम है। बिहार के कुछ जिलों में उपायुक्त और जिला मजिस्ट्रेट रहने के बाद वे यूनिसेफ से सहायता प्राप्त बिहार शिक्षा परियोजना के निदेशक बने जिससे उन्हें भारतीय विद्यालय व्यवस्था को बड़े नजदीक से व गहराई से देखने का अवसर मिला। केन्द्रीय मानव संसाधन विकास मंत्रालय में संयुक्त सचिव के पदस्थापन ने उन्हें समेकित तथा माध्यमिक शिक्षा की नीति और प्रक्रियाओं से अवगत कराया। ऑक्सफोर्ड विश्वविद्यालय में विजिटिंग फेलो रहने के दौरान उन्होंने समावेशी शिक्षा के बारे में विस्तृत जानकारी प्राप्त की और कई अन्तर्राष्ट्रीय शैक्षिक सम्मेलनों में भाग लिया। आजकल आप बिहार के शिक्षा सचिव के पद पर कार्यरत हैं। ♦

प्रकाशक : प्रकाशन संस्थान, 4715/21, दयानंद मार्ग,
दरियागंज, नई दिल्ली - 110002

मूल्य : 100 रुपये

परीक्षाएं भारत में शिक्षा को किस तरह प्रभावित करती तथा अभावग्रस्त बच्चों का बहिराव जारी रखती हैं ? भारत में छात्र परीक्षा के लिए पढ़ाई करते हैं। यही उनके भविष्य, बल्कि भाग्य तक को निर्धारित करती हैं। कुछ को आनन्द तो अधिकांश को दुःख और तनाव देती हैं। कुछ को तो आत्महत्या तक के लिए मजबूर कर देती हैं। यह जोखिम से भरी होती हैं, टेढ़ी खीर है, तथा परीक्षा में सफलता पाने में भाग्य की भारी भूमिका होती है। परीक्षाएं बहुत से बच्चों को, और खासकर ग्रामीण, अभावग्रस्त और निर्योग्य बच्चों को, विद्यालय से बाहर खदेड़ देती हैं। यह एक विशालकाय छन्नी है। ऐसी परीक्षाएं व्यवस्था को पसन्द भी हैं। क्योंकि मुड़ीभर चुनिन्दा छात्र हों, जो अधिकतर नगरीय मध्यवर्ग के होते हैं, अधिक नम्बर पाते हैं, क्योंकि उन्हें ट्यूशन और कोचिंग की सुविधा प्राप्त होती है, और इस तरह उच्च शिक्षा संस्थानों में प्रवेश पाते हैं जहां सीटें सीमित होती हैं। परीक्षाओं की व्यवस्था, जिसका उत्तीर्ण और अनुत्तीर्ण की धारणा से गहरा संबंध होता है, एक उपनिवेशी धरोहर भी मालूम होती है क्योंकि अंग्रेज तो यही चाहते थे कि थोड़े से लोग ही या तो उनकी सेवा के लिए उपलब्ध हों या उच्च शिक्षा में प्रवेश पाएं।

पुस्तक से ...